Chapter- 6

षष्ठ अध्याय

षष्ठ अध्याय

उपसंहार : अध्याय का सारांश

प्रस्तुत प्रबंध में हिन्दी उपन्यास साहित्य के एक शतक का लेखाजोखा देने का प्रयास किया गया है। प्रारम्भ में उपन्यास के रुपबंध पर विचार करते हुए सन् 71 तक की पारिवारिक औपन्यासिक परम्परा को निर्दिष्ट किया गया है। तत्पश्चात् सन् 1971 से 1990 तक के पारिवारिक उपन्यास साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया गया है। औद्योगिक क्रांति से विकसित पूँजीवादी व्यवस्था में जीवन की जटिलता को अनेक गुना बढ़ा दिया है। ऐसी स्थिति में मानव जीवन एवं समाज–जीवन की पारिवारिक जटिलताओं को उसके यथार्थ एवं समग्र रूप में सम्प्रेषित करने के लिए उपन्यास सर्वथा उपयुक्त संवाहक एवं सशक्त माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है।

सेटेलाइट की गति से दौड़ते हुए इस वैज्ञानिक युग की नित्य नवीनता परिवर्तनशीलता एवं नवीन मूल्यों की पुनर्स्थापना को रूपायित करने के लिए संसार के श्रेष्ठ चिंतक साहित्यकारों ने अपने विचारो के संवाहक के रूप में इस विद्या को प्रस्तुत किया है।

हिन्दी उपन्यास में प्रेमचन्द का स्थान एक उच्च शिखर के समान है। वैसे तो बहुत से प्रसिद्ध उपन्यासकार हुए हैं किन्तु प्रेमचन्द का महत्व इसलिए है कि उन्होंने इस चली आती परम्परा के बीच आये हुए गतिरोध को दूर कर उसे एक सुदृढ़ आधार प्रदान किया और अपनी अभूतपूर्व मानवीय संवेदना से उसमें प्राण–प्रतिष्ठा की। ''हिन्दी के एक असंदिग्ध शिल्प–स्वामी अज्ञेय जी ने भी यह सहर्ष स्वीकार किया है कि प्रेमचन्दजी आज भी हमारे लिए प्रेरणा के ज्योति स्तम्भ हैं।''[1]

मैंने शोध के दौरान पाया कि स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय समाज में परिवार का स्वरूप परिवर्तन बहुत तेजी से हुआ। देश की सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों में जितनी तेजी से परिवर्तन आया है, उससे नारी को घर से बाहर निकलने, शिक्षा प्राप्त करने तथा स्वयं को अभिव्यक्त करने के विपुल अवसर मिले हैं। बढ़ती महँगाई के कारण परिवार की आवश्यकताएँ प्रायः एक व्यक्ति की आय से पूरी नही हो पातीं।

राजनैतिक एवं सांस्कृतिक चेतना तथा बढ़ते हुए आर्थिक दबाव ने नारी तथा समुचे समाज के चिंतन को परिवर्तित किया है। यही कारण है कि युवा पीढ़ी के साथ–साथ पुरानी पीढ़ी की अपनी प्राथमिकताएँ हैं, इसलिए विवाहित, अविवाहित महिलाएँ तथा नवजात शिशुओं की माताएँ भी कमर कसकर पुरुषों की अर्जन दुनिया में आ खड़ी हुई हैं।

साहित्य चूँकि जन–जीवन की ही अभिव्यक्ति है इसलिए साहित्यकारों ने भी परिवार के बदलते स्वरूप पर प्रकाश डाला है। साहित्य के निर्माण में युगीन चेतना का अर्थात् देश की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का विशेष योगदान होता है। साहित्य के विभिन्न रूप युगीन चेतना की मिट्टी में ही निर्मित होते हैं।

स्वतंत्रता के बाद समाज क्षतविक्षत हो उठा। सम्पूर्ण समाज अनेक विसंगतियों का शिकार बन गया। धनाभाव, आर्थिक संकट, बेरोजगारी, अनमेल विवाह, भ्रष्टाचार, रिश्वत – अनेक समस्याएँ उद्‌भूत हुई। वर्गभेद, वर्णभेद, ऊँच–नीच की भावना को प्रोत्साहन मिलने लगा। इस युग की एक महान् सामाजिक घटना है मध्यवर्ग का उदय।

'भाग्यवती' (पं. श्रद्धाराम फुल्लौरी) सन् 1877 ई. में लिखा गया। इसके बाद कई लेखकों ने अलग–अलग विषयों पर उपन्यास लिखे । प्रेमचन्दजी पहले उर्दू में लिखते थे, बाद में हिन्दी में लिखना शुरु किया। हिन्दी में उनका प्रथम उपन्यास 'सेवासदन' सर्वप्रथम सन् 1918 ई. में प्रकाशित हुआ। अतः हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भिक काल सन् 1877 ई. से लेकर सन् 1917 ई. तक माना जाता है। प्रेमचन्द युग के पूर्व उपन्यास साहित्य अपरिपक्व, एकांगी, मनोरंजन प्रधान या सुधारवादी जीवन–दृष्टि शून्य था। प्रेमचंद ने उसमें नयी चेतना फूँक दी और उसे पुष्ट, बहुआयामी, चरित्रात्मक बनाया तथा उसे एक नयी जीवन–दृष्टि प्रदान की। प्रेमचंदजी ने कई उपन्यास और कहानियाँ लिखीं। 'गोदान' (सन् 1936 ई.) प्रेमचंद की प्रौढ़तम रचना है। सामाजिक शोषण के खिलाफ जो आवाज 'सेवासदन' में उठी थी 'गोदान' में वह और भी व्यापक फलक को समेट कर अपनी बुलन्दियों पर पहुँच गई थी। प्रेमचन्द जी ने जहाँ

'निर्मला' को नारी जीवन की ट्रेजड़ी बताया है तो 'गोदान' कृषक जीवन की।

प्रेमचंद जी के सम्पूर्ण साहित्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि उनके साहित्य में क्रमशः प्रगति दिखती है। प्रारम्भ में वे आदर्शवादी थे, जैसे प्रत्येक अभाव पीड़ित व्यक्ति होता है, परन्तु बाद में क्रमशः आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से होते हुए यथार्थवाद की ओर अग्रसर हुए हैं। 'होरी' का करुणान्त ही उनके यथार्थवादी होने की घोषणा करता है। जिन्दगीभर 'मरजादा' के लिए जूझनेवाले होरी का गोदान बीस आनों से करना पड़ता है।

डॉ. इन्द्रनाथ मदान 'गोदान' के बदलते हुए स्वर को रेखांकित करते हुए लिखते हैं – ''यह उपन्यास केवल होरी का गोदान नहीं है। प्रेमचन्द की आस्था का भी गोदान है। सदनों, निकेतनों, आश्रमों में लेखक की आस्था का गोदान है। प्रेमचंद की संवेदना नया मोड़ लेती है।''[2] परन्तु प्रेमचन्द की संवेदना का यह मोड़ नया नहीं है। गोदान में हम प्रेमचन्द की मानवतावादी–जनवादी संवेदना का विकसित रूप पाते हैं। 'गोदान' में हमें प्रेमचंद की विकसित होती हुई यथार्थवादी दृष्टि का चरमोत्कृष्ट रूप उपलब्ध होता है। जीवन की व्याख्या का दृष्टिकोण अधिक संतुलित हो गया है। और इस तरह 'गोदान' यथार्थवादी की दृष्टि से उनके अन्य उपन्यासों से कोसों दूर आगे बढ़ गया है। प्रारम्भ में गांधी और टाल्स्टाय से प्रभावित प्रेमचन्द बाद में मार्क्स और गोर्की तथा एलेक्जान्डर कुप्रिन से प्रभावित दिखते हैं। 'गोदान' और 'मंगलसूत्र' में तो पूर्णतया यथार्थवादी हो गये हैं। प्रेमचंद युग में ही प्रेमचंद परवर्ती उपन्यास की एक मूल्य प्रवृत्ति व्यक्तिवादी चेतना का उदय होने लगा था। इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा और जैनेन्द्र कुमार इस व्यक्तिवादी चिंतक के वाहक हैं। इनका अध्ययन क्षेत्र भी विस्तृत था। वे जान चुकेथे कि सारी समस्याएँ सामाजिक अथवा आर्थिक ही नहीं हैं, उनका संबंध संस्कार परिवेश और मनोवगत से भी है।

मैंने शोध के दौरान यह पाया है कि स्वाधीनता पूर्व की सारी बातें, सारे प्रण, सारी नीतियाँ स्वाधीनता के बाद उलट गयीं। कदाचित् हम अधिक मानसिक दासता के शिकार हुए। अपने देश का विकास उसकी अपनी प्रकृति, परम्पराओं एवं संस्कृति के अनुरुप होना चाहिए था, उसके स्थान पर पाश्चात्यीकरण का

जो सपना नेहरु जी ने देखा था उसने देश को धराशयी व दिवालिया बना दिया। देश में भ्रष्टाचार, गरीबी और शोषण बढ़ता ही गया है। आज भी देश के बहुत से जन गरीबी रेखा के नीचे जीवन–यापन कर रहे हैं।

टूटते गाँव, टूटते परिवार, बड़े होते जाते महानगर तथा उसकी रिक्त जिन्दगियों, औद्योगीकरण और मशीनीकरण आदि ने एक अजीब स्थिति पैदा कर दी है। भीड में आदमी खो गया है। युवावर्ग बेचैन, दिशाहीन, लक्ष्यहीन होता जा रहा है। आजादी के पश्चात् बढ़े भ्रष्टाचार ने नव–धनिक वर्ग को जन्म दिया है जिसके पास अतुल सम्पत्ति है पर संस्कारों का नितान्त अभाव है। जिसकी ताकत रूपया है। रुपये के इस बढ़ते प्रभाव ने सारे नैतिक मूल्यों की कमर तोड़ दी है। भ्रष्टाचारी रुपयों ने फिल्मों की चकाचौंध बढ़ा दी है और लक्ष्यहीन युवावर्ग उसमें बुरी तरह फँसता ही जा रहा है।

बढती हुई दिशाहीन शिक्षा–पद्धति ने बेरोजगारी को बढ़ावा दिया है। स्त्री–शिक्षा ने जहाँ इस वर्ग को आत्मनिर्भर किया है, वहाँ नवीन सामाजिक समस्याओं को जन्म भी दिया है। स्त्री शोषण का एक नया आयाम शिक्षित, अविवाहित व्यवसायी लड़कियों के रूप में सामने आया है। उनकी सेक्स जनित कुण्ठा तथा उत्तरकालीन जीवन के असहाय एकाकीपन ने एक नवीन नारकीयता को जन्म दिया है। बढ़ते हुए व्यक्तिवाद ने स्त्री–पुरुष की अहं वृत्ति को अत्यधिक उत्तेजित किया है, जिसके परिणामस्वरूप दाम्पत्य जीवन में दरारें पड़ रही हैं और परिवार टूटते जा रहे हैं। इसमें छोटे–छोटे शिशुओं की स्थिति त्रिशंकु–सी होती जा रही है। आज भी बदलती हुई चिंतन प्रणाली ने जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन किये हैं। जिससे मध्यवर्गीय समाज नये–पुराने संस्कारों के बीच पिस रहा है। उच्च तथा एकदम निम्न वर्ग का नैतिक मूल्यों से कोई लेना–देना नहीं है।

मैंने शोध में पाया है कि स्वतंत्रता के पश्चात् देश की राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों में जितनी तेजी से परिवर्तन आया है उससे नारी को घर से बाहर निकलने, शिक्षा प्राप्त करने तथा स्वयं को अभिव्यक्त करने के विपुल अवसर मिले हैं, बढ़ती महँगाई के कारण परिवार की आवश्यकताएँ प्रायः एक व्यक्ति की आय से पूरी नहीं हो पातीं। तब आवश्यकता पडती है एक अन्य अर्जक सदस्य की, जरुरी नही

है कि वह पुरुष ही हो। बढ़ते आर्थिक दबाव ने नारी तथा समूचे समाज के चिंतन को परिवर्तित किया है। जहाँ पुरुष ठीक से नहीं कमा पाता है तो पुरुष के झुके कंधों व थके कदमों को सहारा देने के लिए वह स्वयं अर्थोपार्जन के क्षेत्र में कूद पड़ी है। यदि दुर्भाग्यवश पिता या पति काम करने की स्थिति में न हों तो नारी सुलभ कमनीयता को भुलाकर वह स्वयं पिता अथवा पति की भूमिका का निर्वाह करने लगती है।

इस शोध के दौरान कई उपन्यासों में पाया कि किस तरह लड़कियाँ परिवार की जिम्मेदारी को उठाती हैं और वक्त से पहले ही मुरझा जाती हैं। 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' की सुषमा ने भी यौवन की सहज माँग व आकर्षण को भुलाकर असमय दायित्वों को ओढ़ लिया है। रिटायर्ड पिता पक्षाघात से पीड़ित हैं। दो छोटी बहनें व भाई पढ़ रहे हैं। अतः अपने भविष्य को संवारने के प्रयास में वह कैसे उन सबके भविष्य को मंझधार में छोड़ दे? यही कारण है कि जब उसे दिल्ली के गर्ल्स कॉलेज में प्राध्यापिका की नौकरी मिलती है तो लगता है जैसे 'तूफान से बचकर उसकी जीवन–नौका एक शांत बन्दरगाह पर आ पहुँची है।''[3]

कमाऊ बेटी जब परिवार के पोषण का दायित्व अपने कंधों पर लेकर पुत्र की भूमिका में उतरती है तो माता–पिता प्रायः स्वार्थी हो जाते हैं। और उसकी ओर से निश्चिन्त भी। सुषमा की माँ सुषमा के ढलते यौवन और कौमार्य को देखकर चिंतित नहीं है। चिंतित हैं यौवन की दहलीज पर खड़ी छोटी बेटी नीरु के विवाह को लेकर। यह अहसास सुषमा के भीतर पीड़ा की सृष्टि करता है। ''उसे लगता है कि वह पैसा कमाने की मशीन मात्र बनकर रह गई है।''[4] विवाह करके परिवार को निराधार छोड़ना उसे सम्भव नहीं जान पड़ता।

परिवार के लिए अपने आप को मिटा देने का भाव कामकाजी महिला के लिए परिचितों में सम्मान व प्रशंसा अर्जित करता है तो कई बार उसे 'बेचारी' दया का पात्र भी बना देता है। सुषमा की मौसी सुषमा के त्याग की भूरि–भूरि प्रशंसा करते नहीं थकती कि 'सुषमा ने तो भाई–बहनों के कारण अपने को मिटा दिया।''[5]

इस शोध के दौरान मैंने पाया कि किस तरह परिवार में पिता द्वारा अर्थोपार्जन न करने के कारण

ज्येष्ठ पुत्री को ही पिता के सम्पूर्ण दायित्व निभाने पड़ते हैं। जब कम आय से परिवार का गुजारा नहीं होता तो परिवार के अस्तित्व–रक्षण के लिए कामकाज करने वाली महिला देह के स्तर पर की जानेवाली सौदेबाजी स्वीकार करने को विवश है। यह सौदेबाजी एक ओर उसकी योग्यता का अपमान है तो दूसरी ओर उसके शोषण का प्रमाण भी।

पिता के जीवित होते हुए भी परिवार को पालने की जिम्मेदारी 'दो लड़कियाँ' की रंजना पर है। वह स्वयं कहती है – ''मैं किसी शौक को पूरा करने के लिए या फैशन पूरा करने के लिए नौकरी नहीं करती। मैं काम इसलिए करती हूँ कि घर की आवश्यकताएँ पूरी हो जाएँ। परिवार के लोगों को दोनों समय का भोजन मिल सके।''[6] दुर्भाग्यवश एम.ए. पास रंजना को अपनी योग्यता के अनुरुप नौकरी नहीं मिल पाई है। वह दफ्तर में मामूली नौकरी पर है। वेतन कुल पांच सौ रुपये और वह भी आरम्भ में नहीं, नौकरी के पांच साल बाद। इतनी कम आय में परिवार का निर्वाह कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। अतः विवश रंजना को मालिक सेठ कनौड़िया की हर कुत्सित इच्छा पूर्ण कर घर में अतिरिक्त पैसा लाना पड़ता है।

इस शोध के दौरान मैंने पाया है कि पारिवारिक दायित्वों को निभाते–निभाते पुत्री से साधन बन जाने वाली महिलाएँ आत्मनिर्भर होते हुए भी उस राशि को अपनी इच्छानुसार खर्च करने को स्वतंत्र नहीं होती, न अपने भविष्य के प्रति सोचने तथा कोई निर्णय लेने को। यही नहीं, प्रायः माता–पिता तथा भाई–बहन भी उनकी ओर से उदासीन हो अन्य सदस्यों के भविष्य के प्रति चिंतित हो जाते हैं। माता–पिता की यह स्वार्थपरता उन्हें तिलमिलाती अवश्य है, किन्तु अन्य कोई विकल्प न होने के कारण उन्हें यह सहन करना पड़ता है। इसके विपरीत, कई महिलाओं में अपने जीवन को अधिक स्वतंत्र व बेहतर ढंग से जीने की आकांक्षा प्रबल होती है। तब माता–पिता की क्षुद्र स्वार्थपरता तथा जीवनभर कमाई का जरिया बने रहने की विवशता उनमें विद्रोह का भाव प्रबल कर देती है। 'नावें' उपन्यास की मालती इसका उदाहरण है। ''मालती पिता के जीवित होते हुए भी एक सम्पूर्ण पिता का दायित्व निभा रही है।''[7] पिता रिटायर्ड हैं और घर में स्वयं को सबसे छोटा महसूस करते हैं। वैसे भी नौकरी करते हुए वे घर की समस्त आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर पाते थे। अतः घर पर आर्थिक तनाव की काली छाया सदैव मडराती रही। स्वयं मालती फीस माफ

करवाकर, कॉलेज से किताबें लेकर पढ़ाई करती है। एम.ए. पास करके पढ़ाई से मुक्ति पाने का राहत भरा एहसास लेकर वह उल्लसित नहीं हो पाती। उल्लासित होती है माँ कि 'चलो अच्छा हुआ। इस खर्चे से अब मुक्ति मिली। अब कुछ दूसरा डौल करने की बात सोचो'[8] माँ की यह उपेक्षा मालती के तनाव को बढ़ा देती है। अब उसे अपनी डिग्री के सहारे नौकरी खोजनी है और सारे परिवार का पेट पालना है। मालती को नौकरी करते हुए यह बात सर्वाधिक आहत करती है कि क्यों उसके माता-पिता उसके सुख-दुख की ओर ध्यान नहीं देते? सोमजी की पुस्तकों का अनुवाद करके जब वह घर में अधिक पैसा लाती है तो भी वे अतिरिक्त आय का कारण नहीं पूछते। ''जब व्यस्तता के कारण गाजियाबाद में रहने का बहाना बनाकर वह सोमजी के साथ अवैध गर्भ को छुपाने कलकत्ता जाती है, तब भी वे चिंतित या आशंकित नहीं होते। कारण उनके लिए वेतन प्रमुख है और इस दौरान सोमजी के प्रबंध के कारण वेतन जितनी राशि उन्हें बराबर मिलती रही है। वेतन लाने वाली पुत्री कैसी है, किन परिस्थितियों में है, यह जानने का उन्हें अवकाश नही। ऐसी अवस्था में मालती को लगता है कि माता-पिता उसके अवैध गर्भ को स्वीकार कर उसे ममत्व भरा संरक्षण अवश्य देंगे। किन्तु माँ के दुत्कारे जाने पर वह घर त्याग कर चली जाती है।''[9]

कई बार ससुराल वालों के द्वारा किये जा रहे अत्याचारों के कारण पत्नी ससुराल के सदस्यों के पोषण का दायित्व अपने ऊपर न ले किन्तु पति की मृत्यु के पश्चात् संतान के लालन-पालन के दायित्व से वह मुँह नहीं मोड़ सकती। अतः माँ के साथ पिता की भूमिका का निर्वाह भी उसे करना पड़ता है। 'अपने पराए' की वंदिता इसका उदाहरण है। ''पति की असामयिक मृत्यु के पश्चात् छोटे-छोटे तीन बच्चों के भविष्य को संवारने का संपूर्ण दायित्व एकमात्र उसका है। अतः गाजियाबाद के स्कूल में अध्यापन कार्य कर वह किसी तरह गृहस्थी की नौका खेती रहती है।''[10] बाद में वंदिता की बेटी नीलिमा को अपनी विधवा अध्यापिका माँ की सहायता के लिए नौकरी करना आवश्यकलगता है।

कई बार प्रारम्भ में नौकरी परिवार की सहायतार्थ की जाती है किन्तु बाद में वह जीवन तथा अस्तित्व का अभिन्न अंग बन जाती है। फलतः कामकाज का मूल उद्देश्य धीरे-धीरे परिवर्तित हो जाता है। अतः इस दिशा में विशेष प्रशिक्षण लेकर वह माँ के ही स्कूल की प्रबंध समिति द्वारा खोले गए एक अन्य स्कूल में अध्यापन कार्य करने लगती है। यह नौकरी क्रमशः उसे इतना आत्मविश्वास एव आत्माभिव्यक्ति

के अवसर देती है कि वह इसी में अपना भविष्य खोजने लगती है। नौकरी ने उसे आर्थिक सुरक्षा एवं व्यस्तता दी है। साथ ही जीवन के महत् निर्णय लेने का आत्मविश्वास भी। फिर वह क्यों नौकरी छोड़ने की बात सोचे?

स्पष्ट है कि नीलिमा का माँ की सहायता करने का लक्ष्य शनैः शनैः अस्मिता की पहचान में बदल गया है। इसी झोंक में वह विवाह की अपेक्षा केरियर को प्राथमिकता देने लगती है।

इस शोध के दौरान मैंने पाया कि कामकाज के जरिए आर्थिक स्वतंत्रता पाने के मूल में आर्थिक के साथ–साथ सामाजिक व मनोवैज्ञानिक कारण भी रहते हैं। स्त्रियों में आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा और परिवार तथा समाज में अपनी पहचान बनाने को लिया जा सकता है। विशिष्ट पहचान बनाने की ललक के मूल में दो कारण हैं – परिस्थितियों का दबाव तथा दूसरे महिला का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण। आर्थिक स्वतंत्रता के लिए कामकाज करने वाली महिलाओं के सामने धनाभाव होना आवश्यक नहीं। उनमें प्रायः एक रिक्ति अथवा असंतोष का भाव होता है। पारिवारिक माहौल में वे स्वयं को 'फिट' नहीं कर पातीं। अतः अपने ढंग से जीवन जीने के लिए उन्हें आर्थिक स्वतंत्रता अर्जित करना अनिवार्य लगता है।

'बेघर' की संजीवनी के नौकरी करने का यही कारण है। माँ–पिता, भाई–भाभी, भतीजे–भतीजी आदि से भरे घर में भी बेघर होने की अनुभूति संजीवनी को व्याकूल करती है। भाई–भाभी अपने–अपने कारोबार एवं गृहस्थी में व्यस्त हैं। पिता निठल्ले न होकर भी लगभग निठल्ले की संज्ञा पा चुके हैं, और माँ है मूक–बधिर। संजीवनी के लिए सोचने का किसी के पास अवकाश नहीं। घर की ढेर सी वस्तुओं के बीच पड़ी एक और वस्तु है वह भी, जो वहाँ रह तो सकती है, अपने अधिकार के लिए या अवश माँ पर किए जा रहे अत्याचार के विरुद्ध आवाज नहीं उठा सकती। कारण, ''अर्थ से बंधी दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसे भाइयों के आगे हाथ फैलाना पड़ता है। फलतः स्वावलम्बी होकर माँ की सेवा–सुश्रुषा करने के लिए वह बैंक ऑफ बड़ौदा में नौकरी करने लगती है।''[11]

संजीवनी की भाँति 'उस तक' की मुक्ता भी अकेली तथा बेघर होने की व्यथा से व्यथित है। वह परिवार में रहकर आर्थिक स्वतंत्रता के जरिए अपने लिए स्थान व सम्मान अर्जित नहीं करना चाहती, वरन् परिवार से विद्रह कर अलग हो जाती है। कारण है, जहाँ संजीवनी अपनी माँ से प्यार करती है वहीं मुक्ता

का विद्रोह ही माँ से है। ''वैसे देखा जाए तो दोषी प्रतीत होने वाली मां वस्तुतः दोषी नहीं है। वह अपने निम्न मध्यवर्गीय संस्कारों, स्वप्नों, सीमाओं में इतनी बँधी है कि आजीवन पुत्र के स्थान पर तीसरी पुत्री – मुक्ता के जन्म को स्वीकार नहीं कर पाती।''[12] अतः माँ की कटुता व उपेक्षा को सहन नहीं कर पाती और घर से निकल पड़ती है। सब मुसीबतों का सामना करते हुए मुक्ता अपनी पढ़ाई पूरी करती है। यह चारित्रिक दृढ़ता, आत्मविश्वास तथा जीवन में ऊँचा उठने की महत्वाकांक्षा बाद में उसके उन्नत भविष्य के सोपान बन जाते हैं।

मैंने इस शोध के दौरान पाया कि पति–पत्नी में तनाव से उनके तलाक का मुख्य कारण उनकी 'आपसी' समझ की कमी है। क्योंकि दाम्पत्य संबंध पति–पत्नी की आपसी समझ तथा थोड़ा पारिवारिक स्थितियों पर निर्भर करता है। यही कारण है कि कई बार अशिक्षित और घरेलू कही जाने वाली महिलाएँ अच्छे दाम्पत्य सम्बंध भोगती हैं। जबकि सुशिक्षित तथा आधुनिक कही जाने वाली महिलाएँ दाम्पत्य सम्बंधों में आने वाली कटुता नहीं धो पातीं। प्राचीन भारत में पति–पत्नी के भिन्न तथा निश्चित कार्यक्षेत्र होते थे। दोनों अपने–अपने कार्यों को करते थे और एक–दूसरे के प्रति आदर रखते थे। अतः दोनों में तनाव की गुंजाइश ही नहीं रहती थी। विवाह का मुख्य लक्ष्य वैयक्तिक न होकर परिवार तथा समाज के प्रति एक सामाजिक कर्तव्य था। इन कर्तव्यों के कारण वैवाहिक मनमुटावों को सार्वजनिक रूप से व्यक्त करने की कोई गुंजाइश नहीं रहती थी। किन्तु औद्योगिकरण, शहरीकरण, शिक्षा, धर्मनिरपेक्षता तथा ह्रासोन्मुख संयुक्त परिवार प्रणाली ने व्यक्ति, विशेषकर स्त्री के दृष्टिकोण में परिवर्तन ला दिया। अतः पति–पत्नी दो भिन्न इकाइयाँ बनकर अपने–अपने हित में खोकर अपनी व्यक्तिगत खुशियों को पूरा करने में लगे रहते हैं। इससे तनाव उत्पन्न होता है। अब महिलाएँ विवाह द्वारा शारीरिक, सामाजिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं की संतुष्टि चाहती हैं।

हम मानते हैं कि नौकरी करना सम्बंधों में तनाव लाने वाला कारण नहीं है। किन्तु फिर भी कहीं न कहीं सम्बंधों को प्रभावित अवश्य करता है।

मैंने इस शोध में पाया है कि भारतीय समाज आज जिस दौर से गुजर रहा है वहाँ परम्परागत तथा आधुनिक मूल्यों में द्वन्द होना स्वाभाविक है। नई और पुरानी मान्यताओं में समन्वय स्थापित करने के

प्रयास किये जा रहे हैं। जहाँ एक ओर विवाह को जन्म–जन्म का अटूट सम्बंध तथा पति को परमेश्वर मानने का भाव है, वहीं आज विवाह को इच्छा व सुविधानुसार तोड़ दिया जाने वाला एक समझौता, तथा पति–पत्नी को मित्र मानने का आग्रह भी है। पत्नी की दोहरी जिम्मेदारियों तथा विवाह के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण के कारण पति और पत्नी की निर्धारित भूमिकाओं में भारी अनिश्चितता आ गई है। क्योंकि कुछ भूमिकाओं को छोड़कर शेष में अब कोई अन्तर नहीं है। अतः पुरुष विरासत में मिले श्रेष्ठता के भाव से तना रहता है, वहीं पत्नी स्वावलम्बी एवं स्वतंत्र होने के कारण उत्पन्न अहम् से दीप्त रहती है। यही दोनों के सम्बंधों में टकराव का मूल कराण है। निःसंदेह भारतीय पुरुष आज भी पुरुष होने के नाते परम्परा से मिले इस भाव को पूरी तरह त्याग नहीं पाया है, किन्तु काफी सीमा तक इससे उबर चुका है। यही कारण है कि नारी को उसने अपना साथी स्वीकार कर लिया है, किन्तु फिर भी वह नारी को अपने से श्रेष्ठ पद अथवा स्थिति में नहीं देखना चाहता है। पत्नी की सामाजिक एवं आर्थिक श्रेष्ठता उसके अहम् को चोट करती है। पत्नी की ऊँची सामाजिक एवं आर्थिक हैसियत जहॉ पति में हीनभाव उत्पन्न करती है, वहीं पत्नी में अहं का विकास भी करती है। किन्तु यही अहं आवश्यकता से अधिक विकसित हो जाने पर नकरात्मक दृष्टिकोण ग्रहण कर लेता है।

''आपका बंटी' की शकुन का अहम् भी पूर्व पति अजय से सीधी टकराहट का कारण बना है। ''अहम् में तनी शकुन कहा–सुनी हो जाने के बाद सुअवसर देख अजय से मधुर वार्तालाप कर उस फाँस को निकालने की चेष्टा नहीं करती बल्कि स्वयं भी उतनी ही रुष्टता तथा निर्लिप्तता दिखाकर उस मनमुटाव को और अधिक बढ़ा देती है। दोनों के सम्बंधों में दरार इसलिए निरन्तर चौड़ी होती रही क्योंकि दोनों दरार को पाटने की अपेक्षा अपने–अपने अदृश्य हथियारों को हवा में भाँजते हुए लड़ाई के लिए सदैव सन्नद्ध रहे।''[13]

मैंने शोध के दौरान पाया कि जैसे नावें, कड़ियाँ, आपका बण्टी, उसका बचपन आदि कई उपन्यासों में महिलाओं को गृहकार्य के उपरान्त बच्चों की परवरिश, उनकी शिक्षा–दीक्षा, उनके होमवर्क आदि की चिंता भी करनी पड़ती है। कामकाजी महिलाओं के जीवन में दाम्पत्यभंग होने की संभावना बराबर बनी रहती है। अतः दाम्पत्यजीवन में बिखराव लाने के लिए नौकरीपेशा होना कुछ हद तक उत्तरदायी रहा है। किन्तु इसके अलावा भी कई कारण दाम्पत्य जीवन में तनाव पैदा करते है।

मैंने शोध के दौरान पाया कि माता–पिता के आपसी संबंध संतान के भविष्य एवं विकास को पूर्णतया प्रभावित करते हैं। यदि माता–पिता के संबंध आपसी सूझ–बुझ और विश्वास पर टिके हों तो बच्चे स्वयं को सुरक्षित अनुभव करते हैं। इसके विपरीत माता–पिता के तनावग्रस्त संबंध बच्चों को हीनता, कुण्ठा, चिड़चिड़ापन, अकेलापन, भटकाव जैसे नकरात्मक मूल्य प्रदान करते हैं। इसमें माँ का नौकरीपेशा होना कोई प्रभाव नहीं डालता।

जीवन रूपी पाठशाला में माँ बच्चे की पहली गुरु होती है, जिसकी गोद में बच्चा आँख खोलने से लेकर जीवन के प्रारम्भिक पाठ पढ़ता है। माँ ही उसे संस्कार–कुसंस्कार देती है। लालन–पालन के माध्यम से उसके जीवन को एक विशेष दिशा की ओर अग्रसर करती है। इसलिए बच्चों के लिए माँ का महत्व अधिक है। कभी–कभी नौकरीपेशा महिलाएँ पूरी तरह से बच्चों का ध्यान नहीं रख पातीं इसलिए कुछ घण्टों के लिए बच्चों को किसी दूसरे की देखरेख में रखना पड़ता है। क्योंकि आजकल संयुक्त परिवार प्रणाली लगभग खत्म हो गई है और एकल परिवार के चलन से अब माँ–बाप को क्रश या किसी दूसरी जगहों का सहारा लेना पड़ता है। माँ–बाप का दाम्पत्येतर सम्बंध या माँ का नौकरीपेशा होना बच्चों पर सदैव विपरीत प्रभाव ही नहीं डालता, बल्कि इससे संतान सही–गलत की पहचान करना सीखती है तथा समय से पूर्व समझदार, गम्भीर तथा उत्तरदायी भी हो जाती है।

'' 'नावें' उपन्यास की नीलू बचपन से ही माता–पिता के असहज दाम्पत्य सम्बंधों की साक्षी एवं भोक्ता रही है। माँ का अकारण चिढ़े रहना, साथ रहते हुए भी पति से सम्बंधहीनता बनाए रखना तथा पिता की शारीरिक एवं मानसिक अतृप्ति नीलू की तीव्र दृष्टि से छिपी नहीं है। अपराध–बोध से ग्रस्त माँ मालती अपनी दृष्टि से जीवन जीती रही और सौतेले पिता विजयेश नीलू को अपना नहीं मान पाए। अतः माता–पिता के होते हुए भी नीलू स्वयं को अनाथ अनुभव करती है। उसके मन में 'माता–पिता का सम्मिलित प्यार' पाने की उलझन है।''[14] अकेले होने की प्रतिक्रिया ने नीलू को समझदार तथा परिपक्व भी बनाया है। इसी कारण वह अपने प्रति पिता के घृणाभाव को मानते हुए भी उनकी निरीहता समझती है। फलस्वरूप अकेले उपेक्षित विजयेश से अधिकारपूर्वक स्नेह की याचना कर वह उसे बाँध लेती है। तब विजयेश को भी

लगने लगता है कि इस घर में ''कोई है जिसे मेरी अपेक्षा है।''[15]

महिलाओं की विवाह विषयक मान्यताएँ और उनका परिवार पर प्रभाव:

विवाह वासनापूर्ति हेतु किया गया सामाजिक अनुबंध नहीं है, न सन्तानोत्पत्ति के लिए स्वीकार किया गया दायित्व। विवाह मूलतः व्यक्ति के आत्मविकास का माध्यम है। समय के साथ–साथ विवाह के स्वरूप में पर्याप्त अंतर आता रहा है। स्वयंवर से लेकर बाल–विवाह तक विवाह के उत्कृष्ट एवं निकृष्ट रूप देखे जा सकते हैं।

इस अध्ययन के दौरान मैंने पाया है कि आज के युग में निस्संदेह विवाह का स्वरूप अधिक नहीं बदला है, किन्तु विवाह के आदर्श रूप को लेकर प्रायः वाद–विवाद होता रहता है। यह वाद–विवाद मुख्यतया सुशिक्षित, कामकाजी महिला की ओर से अधिक होता है। उन्हें लगता है कि क्या विवाह अनिवार्य है? यदि है तो उसका स्वरूप क्या होना चाहिए?

निःसंदेह आज ऐसी अनेक महिलाएँ अपने आस–पास देखी जा सकती हैं जो विवाह नहीं करना चाहतीं। अपनी योग्यता और आर्थिक स्वावलम्बन से इन्होंने जीवन में बहुत कुछ पाया है।फिर भी इनका जीवन सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता। विवाह, जीवन–साथी एवं संतान के साहचर्य की अनूभूति के अतिरिक्त 'अपना घर' होने की जो आत्मीय अनुभूति प्रदान करता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। अतः दैहिक एवं आत्मिक तृप्ति के साधन के रूप में विवाह का सहर्ष स्वीकार महिला की समग्र व स्वस्थ दृष्टि का परिचायक है। जिन्दगी का असली 'सुख' शादी करके ही मिलता है। इस सुख की व्याख्या कठिन है क्योंकि यह व्यक्ति सापेक्ष है। लेकिन इतना अवश्य है कि विवाह के बिना व्यक्ति जिस सुख की अनुपस्थिति अनुभव करता है, उसे वह अपने आसपास समाज में सजीव–निर्जीव वस्तुओं में, अनेकविध रुचि–व्यसनों में तलाशता है।

यही कारण है कि 'पचपन खण्भे लाल दीवारें' की सुषमा सबकुछ होते हुए भी कभी–कभी जीवन से बुरी तरह उकता उठती है। वह जीना चाहती है पर जी नहीं सकती। यह उसकी विवशता है। इसलिए तो वह अपनी एक सहेली मीनाक्षी से कहती है ''पैंतालीस साल की आयु में, मैं भी एक कुत्ता या बिल्ली पाल

लूँगी..''[16] 'उस तक' की मुक्ता, 'रुकोगी नहीं राधिका?' की राधिका आदि कुछ ऐसी महिलाएँ हैं जिन्होंने जीवन में अनेक उतार–चढ़ाव देखने के बाद विवाह की आवश्यकता को अत्यंत तीव्रता से अनुभव किया है।

मैंने शोध के दौरान यह पाया है कि कई महिलाओं को विवाह का परम्परागत स्वरूप स्वीकार्य नहीं है। यह महिलाएँ पुरुष के नियंत्रण या स्वामित्व सहना नहीं चाहतीं। 'आपका बंटी', 'नावें', 'कड़ियाँ', 'अंधेरे बंद कमरे' ऐसे उपन्यास हैं जिसमें पति–पत्नी किसी न किसी वजह से लड़ते–झगड़ते रहते हैं, जिसके परिणामस्वरूप परिवार बिखर जाते हैं। 'आपका बंटी' में भी यही दर्शाया है कि माता–पिता के तनावग्रस्त सम्बंधों से संतान बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गई है। अपनी–अपनी हताशा, पराजय को लेकर पति–पत्नी और अधिक कुंठित हो गए हैं। और यदि पत्नी ही संबंध तोड़कर चली गई तो कैसा घर? कैसा परिवार? शकुन ने सम्बंध विच्छेद एवं पुनर्विवाह करके अपने चित्त को स्थिर करना चाहा है, लेकिन इस प्रक्रिया में पुत्र बंटी को खो दिया है।

अतः इस प्रकार हम देखते हैं कि आज की नारी पारम्परिक नारी से भिन्न स्वयं अपने लिए जीने को लालायित हो उठी है। यह प्रवृत्ति उसे पश्चिमी नारी से जोड़ती है। किन्तु गहराई से देखने पर दोनों की मानसिकता में पर्याप्त अंतर है। पश्चिमी नारी के निकट व्यक्तिगत सुख की तुलना में पारिवारिक खुशियों का महत्व नगण्य है। वह परिवार संस्था के मूल्य पर जी रही है। वहाँ की भोगवादी प्रवृत्ति तथा व्यक्तिवादी मनोवृत्ति ने स्त्री एवं पुरुष दोनों को घोर अहंवादी बना दिया है। उनकी दृष्टि इतनी आत्मकेन्द्रित हो गई है कि दूसरे के लिए त्याग अथवा समर्पण की बात वे नहीं सोच पाते। बदले में उन्हें असुरक्षा बोध मिलता है। प्रायः कहा जाता है कि ''पश्चिम का कोई पति या पत्नी यदि किसी कार्यवश एक या एकाधिक सप्ताह घर से बाहर रहे तो वापिस लौटने पर उसे 'मकान' मिलता है 'घर' नहीं।''[17] कारण, इस बीच पति अथवा पत्नी मन की तरंग में किसी अन्य को जीवनसाथी बनाकर अपनी राह चल देते हैं। यह अर्धसत्य हो सकता है किन्तु इससे एक कटु सत्य अवश्य उभरता है कि पश्चिमी नारी भोग के लिए परिवार एवं विवाह–सम्बंध को नकार रही है। इस दृष्टि से भारतीय नारी निश्चय ही आदर की पात्री है, क्योंकि वह मूलतः परिवार के

प्रति आस्थावान है। विवाह–सम्बंध के स्थायित्व एवं सुरक्षा को समझती है। अतः हर सम्भव स्थिति में परिवार को बनाए रखने का प्रयास करती है। उसकी मानसिकता में इतना परिवर्तन अवश्य आया है कि वह अपने को मिटाकर परिवार को बनाने की पक्षधर नहीं अपितु अपने को 'बना' कर परिवार के रूप को और अधिक निखारना चाहती है। उसकी इस अभिलाषा को परिवार के लिए अहितकर नहीं समझा जा सकता।

* * * * *